चण्डी रहस्य

श्रीपंचानन भट्टाचार्य

धूम्रलोचन वध होने से ऊग्रतारूप दुर्मति चण्ड एवं राहु के सदृश तम युक्त मुण्ड साधन समर में बाधा प्रदान करने के लिए युद्धार्थ रणक्षेत्र में उपस्थित होता है। चण्ड और मुण्ड के शरीरस्थ प्राणशक्ति देवी की क्रियाशक्ति को ग्रास करने के लिए उद्धत होने से शरीरस्थ प्राणशक्ति की वक्र भृकुटि रूपी क्रिया के कारण निज ललाट में वृहत् कूटस्थ की मूर्त्ति कराल वदना महाकाली का दर्शन होता है। श्रीमद्‌भगवत् गीता में ११वें अध्याय में इस भाव की कथा ही वर्णित है। यथा, ''द्रष्ट्या करालनिचते मुखानि, दृष्ट्वैव कालानल सन्निभानि'' इत्यादि। उपरोक्त महाकाली के रूप दर्शन जनित ज्ञान खड्‌ग से चण्ड-मुण्ड दोनों ही ससैन्य विनाश को प्राप्त होते है। काल अनंत है, यह काल घटस्थभाव में अवस्थित होने से, उस काल में 'ई' अर्थात् शक्ति संयुक्त होने पर काली होता है। चण्ड-मुण्ड के स्तब्धभाव प्राप्त होकर विनष्ट होने से देवी का चण्डिका नाम हुआ है। यह ही उग्रचण्डी मूर्त्ति हैं, इस उग्रचण्डी मूर्त्ति की कथा भी श्रीमद्‌भगवत्-गीता में ११वें अध्याय में उल्लिखित है यथा : ''पृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा: दृष्टाभूतं रूप भूतग्रं त्वेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।'' इत्यादि उक्त महाकालीरूपी कूटस्थ का सर्वव्यापी रूप, प्राणशक्ति की तेजोमय प्रकाशरूप अवस्था है। जब साधक की योग अवस्था होती है अर्थात् वर्तमान प्राणकर्म की मध्यावस्था के अतीतावस्था को जब साधक प्राप्त होता है; तब ही उक्त रूपी प्रकाश पाता रहता है। इस प्रकाश अवस्था को 'उत्पन्न' सोचना नहीं चाहिए कारण यह नित्या है, सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हैं। इस अवस्था की उत्पत्ति भी नहीं है और नाश भी नहीं हैं, चण्ड-मुण्ड वध नामक अध्याय का यह ही संक्षिप्त तात्पर्य है।

उग्रभाव चण्ड और राहु सदृश तमोगुणरूपी मुण्ड के विनष्ट होने से महासुर शुम्भ के द्वारा साधन समर में रक्तबीज प्रेरित हुआ एवं यही रक्तबीज साधन समर से साधक के आत्मक्रियाकरण इच्छा को नाश करने में उद्यत होता है। रक्त अर्थात् अनुरक्त, अतएव रक्तबीज अर्थात् अनुरक्ति का बीज या इच्छारूपी अवस्था है, अर्थात् साधक की विषयासक्ति रूपी इच्छा या मन ही मन में वाक्य कथन रुपी विषय चिन्तन, जो साधक के हृदय में उदित होकर मूल स्थिरत्व के प्रति लक्ष्य रुपी अवस्था से च्युत करा देता है वह ही रक्तबीज पदवाच्य है। इसकी एक बिन्दु से शत्-शत् रक्तबीज रुपी इच्छा उत्पन्न होती रहती है, किसी भी उपाय से इसका नाश नहीं होने से काली इसको निज जिह्वा के ऊपर रखकर रक्तबीज का वध कार्य सम्पन्न करती है। यही रुप चण्डी में उल्लिखित है। कालीमूर्त्ति में जिह्वा को बाहर करके दन्त द्वारा जो काटने जैसी अवस्था दिखलायी जाती है, उसको यथार्थ भाव में क्षणमात्र के लिए जिह्वा को बाहर कर स्वयं के दन्त से काटकर रखने से भी कुछ पल के लिए जिह्वा ही इच्छा का आंशिक नाशभाव अनुभूत हो सकता है। ऐसा करके देखने से ही सभी समझ सकते हैं। वास्तविक जिह्वा का संयम कण्ठ कूप के मध्य में विशुद्ध चक्र में अटक कर रहने जैसी अवस्था है, यह गुरूपदेश-गम्य है। अर्थात् जिह्वा को तालु गह्वर में स्थित करके विशुद्ध चक्र में बिना अवरोध के वायु रोध होने से जो अवस्था होती है, वही जिह्वा की संयम अवस्था है। इस अवस्था में ही रक्तबीज वध होता है एवं इस अवस्था में ही उपरोक्त रक्तबीज या इच्छा, देहस्थ देवी द्वारा निहत होता है, यह ही देवी महात्मय में रक्तबीज वध का संक्षिप्त तात्पर्य है।

रक्तबीज वध होने से आसुरी भाव के समस्त प्रधान-प्रधान भाव प्राय: विनष्ट हो गए हैं, यह देखकर पिंगला या दक्षिण नासास्थित वहिर्वायु जो क्रमागत क्षय होती रहती है, वह पिंगला स्थित महासुर निशुम्भ, साधन अवस्था में शरीरस्थ प्राण की गति जिससे स्वत: स्थिर नहीं हो सके, इस उद्देश्य से युद्धार्थ अग्रसर होता है। अर्थात्, साधक के मन में नाना प्रकार के विघ्न उत्पन्न कराने के लिए उद्यत

होता है अर्थात्, फलाकांक्षा के सहित धर्मरूप योगविघ्न रूपी अस्त्रादि द्वारा योगकर्म से निवृत्ति लाभ के उद्देश्य से अवशिष्ट सारे आसुरी प्रवृत्ति सैन्यरूप में प्रकट होकर साधन-समर में प्रवृत्त होते हैं। प्राणकर्मरूप निष्काम कर्म द्वारा प्राणशक्तिरूपा देवी के समीप सबों के परास्त होने से, अन्त में पिंगला स्थित वहिर्वायु की गतिविच्छेद होकर पिंगला स्थित महासुर निशुम्भ साधन-समर में प्राणशक्तिरूपा देवी की अन्तर्मुखी गति से ही हीनबल होकर भूतल पर पतित होता है। निशुम्भ को भूतल पर अर्थात्, मूलाधार में पतित हुआ देखकर इड़ा स्थित महासुर शुम्भके अवशिष्ट आसुरी सम्पद् अर्थात् असुर दल के बचे हुए सैनिकों को लेकर साधन समर में उपस्थित होकर देवी के साथ युद्ध आरम्भ करने से आसुरी भाव क्षीण होने लगा। ऐसे समय में पिंगला स्थित महासुर निशुम्भ पुन: चैतन्य होकर देवी के साथ युद्ध करने लगता है। शरीरस्थ प्राणरूपी क्रियाशक्ति का आत्मशूल अर्थात् ॐकार क्रियारूपी शूल द्वारा हृदय ग्रन्थि भेद होने से निशुम्भ रूपी महासुर शूल विद्ध होता है। अर्थात् पिंगलास्थ वहिर्वायु अवरूद्ध होता है। यह बात स्मरण में रखना उचित है कि यह समस्त असुरगण अनंग है अर्थात् वायुरूपी है, वर्तमान में जीवदेह में परिव्याप्त होकर वहाँ अधिकारपूर्वक रहते हैं। हृदय ग्रन्थि भेद होने के बाद अर्थात् उपरोक्त निशुम्भ उपरोक्त शूल से विदीर्ण होने के बाद उसके भीतर से अर्थात् उक्त निशुम्भ के हृदय (निज शरीर के मध्य में ही) से दूसरा एक अन्य पाप पुरूष बाहर होता है। हृदय ग्रन्थि भेद होने से साधक यह समझ सकता है। प्राणशक्ति की क्रिया द्वारा यह पापपुरूष रूपी महासुर भी विनाश को प्राप्त होता है, यह ही निशुम्भ वध है।

प्राणतुल्य भ्राता निशुम्भ को निहत होते हुए देखकर (आसुरी भावापन्न सम्पूर्ण जीव उभय नासास्थित वहिर्वायु को ही प्राणवायु कहकर समझने से प्राणतुल्य कहा गया है) अर्थात् पिंगला नासास्थित वहिर्वायु जो प्रवाहित हो रहा था उसके प्राणशक्ति की क्रिया द्वारा नासाभ्यन्तरचारी होकर स्थिरत्व प्राप्त होता देखकर, पिंगला स्थित वहिर्वायु की स्वत: निरोध अवस्था होने से, इस प्राण की क्रियाशक्ति द्वारा महासुर निशुम्भ के निहत होने से, एवं पिंगला रूपी रजोभाव की सेना यथा-इच्छा, द्वेष अहंकारादिरूपी सम्पूर्ण सैनिकों के भी नष्ट होने से, इड़ास्थित वहिर्वायु रूपी महासुर शुम्भ क्रुद्ध होकर प्राणशक्तिरूपा देवी को सम्बोधन कहकर कहता है, ''रे बल-गर्व मत्त दुर्गे! तुम शरीररूपी दुर्ग में अवस्थान करके शरीरस्थ अपरापर वायुरूपी देव और देवीगणों का बलरूपी सहायता पाकर साधन-समर रूप युद्ध कर रही हो, तुम अकेली नहीं हो; अतएव तुम्हारा अहंकार करना उचित नहीं है।'' तात्पर्य - वाह्य साधन में आसुरी भाव को दमन करने की शक्ति आसुरी भावापन्न जीव के लिए दुराशा मात्र है। फलाकांक्षा के सहित वाह्यिक यागयज्ञादि में आसक्त रहने से आसुरी भाव का उद्देश्य सिद्ध होता रहता है एवं आसुरी भाव समुदाय की चेष्टा भी वही है। रोहिड़े के फलस्वरूप स्वर्गादि फल की प्रत्याशा में वशीभूत करके एवं मोक्ष मार्ग से एकदम वंचित रखकर आसुरी भाव समुदाय जीव को मायारूपी संसार चक्र में निष्पेषित करके उसकी ज्वाला क्रमश: वर्द्धित करते हुए, मुग्धभाव में इसको क्रमागत जन्म मृत्युरूपी चक्र में डालकर संसार ज्वाला में भोग कराते हैं। जीव का जिससे अन्तर में लक्ष्य नहीं हो, आसुरी भाव और आसुरी सम्पदादि का यह ही एकमात्र उद्देश्य है; यह वर्तमान प्राणकर्मरूप मध्यावस्था रूपिणी महामाया की वहिर्मुखी क्रिया शक्ति के फलस्वरूप है। जो जीव वर्तमान प्राणकर्म की मध्यावस्थारूपी प्राणशक्ति के वहिर्मुखी अवस्था का गुरोपदेश से विधिपूर्वक अन्तर्मुखी करने का प्रयास करता रहता है, केवल उसके साथ ही आसुरी भाव और आसुरी सम्पद एवं गुणादि इन्द्रियगणों का साधन-समर होता है; एवं जो इस साधन-समर में असुर कुल को मर्दित करने में सक्षम होता है वही शिव पद का अधिकारी होता है, नहीं तो सारे ही जीव पदवाच्य हैं। परन्तु चेष्टा और यत्न विशेष भाव में वर्तमान रहने से, जीव एक न एक दिन साधन-समर में विजयी होकर मोक्ष प्राप्त करके शिवस्वरूप होता है, यह निश्चित है। इड़ा स्थित वहिर्वायु रूपी महासुर शुम्भ के प्राणशक्तिरूपा देवी दुर्गा को उक्त वचन कहने के बाद देवी कहती हैं अर्थात्, प्राणशक्तिरूपा देवी के कूटस्थरूपी मूर्त्ति से निम्नलिखित वाक्य प्रकाशित होकर मन के अनुभव में आते हैं एवं इस अर्थ से ही ''देवी कहती है'', ऐसा वर्णित है।